हिंसक समय में अहिंसा-विमर्श

आलोक टण्डन

एक ऐसे दौर में जब भारत में क्षुद्र वीरता और नीच हिंसा को अहिंसा से बेहतर बताया जा रहा है और संस्कृति के नाम पर अनेक कदाचार रोज़ हो रहे हैं, अहिंसा की संस्कृति को समझने और उस पर इसरार करने का विशेष महत्त्व है।

—अशोक वाजपेयी
('आमुख' : इसी पुस्तक से)

नंदकिशोर आचार्य से *अहिंसा-विश्वकोश* जैसे बृहद् ग्रंथ के सम्पादन के बाद यह अपेक्षा स्वाभाविक ही थी कि वे अपने विशद ज्ञान और चिंतन के अनुरूप, अहिंसा-विमर्श के विविध आयामों को समेटने वाली एक पुस्तक लिखेंगे जो उनकी दृष्टि को, सार रूप में, और स्पष्ट कर सके। समीक्ष्य कृति इस उद्देश्य को दूर तक पूरा करती है। आज जब हिंसा के नित नये रूप सामने आ रहे हैं और उन्हें संस्कृति के नाम पर वैधता प्रदान करने का प्रयत्न जारी है, ऐसी पुस्तक की रचना एक चुनौती भरा काम है। इसके लिए लेखक बधाई के पात्र हैं। संस्कृति के गम्भीर अध्ययन के रूप में उनके सुलझे विचारों और ख्याति से हम सभी परिचित हैं। अहिंसा-विमर्श पर भी उनकी कई पुस्तकें आ चुकी हैं। अत: संस्कृति और अहिंसा के आपसी संबंधों की जाँच-पड़ताल और अहिंसा की संस्कृति के प्रतिपादन के वे सर्वथा योग्य हैं। सांस्कृतिक हिंसा के वर्तमान माहौल में समीक्ष्य कृति की प्रासंगिकता से इंकार नहीं किया जा सकता। आइए, देखें कि वे इस कार्य को किस ख़ूबी से अंजाम देते हैं।

पुस्तक के पहले अध्याय 'अहिंसा : जीवन का धर्म' में लेखक ने अहिंसा को परिभाषित करने का सुस्पष्ट प्रयास किया है। इसके लिए उन्होंने योहान गाल्टुंग द्वारा प्रतिपादित हिंसा की परिभाषा का सहारा लिया है जिसके अनुसार, 'मानवीय आत्मसिद्धि में कोई भी निवारणीय अवरोध हिंसा है।' (पृ.11) अत: इन अवरोधों को मिटाने का प्रयास अहिंसक व्यवहार है। अहिंसा पद को निषेधात्मक मानने से इंकार करते हुए उन्होंने उसे न केवल भावात्मक और मूल्यात्मक स्तर अपितु आचरणगत स्तर पर भी सकारात्मक माना है जिसमें मानव के साथ मानवेतर के प्रति भी कल्याण का भाव समाहित है। इसलिए उन्हीं के शब्दों में, 'अहिंसा ही वह अनुभूति और प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से हम अपनी आत्मसिद्धि करने में समर्थ हो पाते हैं।' (पृ.12) निश्चय ही 'आत्मसिद्धि' की उनकी अवधारणा
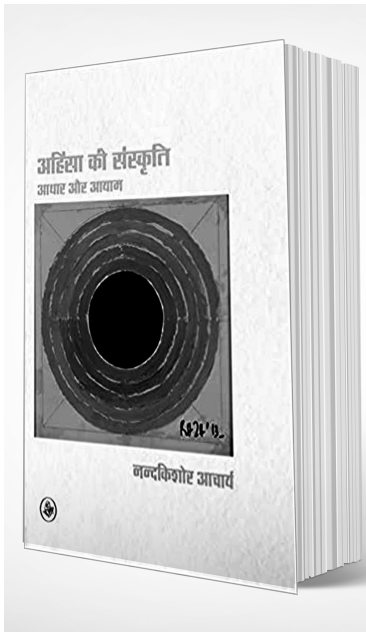
अहिंसा की संस्कृति (2018)
नंद किशोर आचार्य
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
पृष्ठ : 129, मूल्य : 395 रुपये

मानवकेंद्रीयता की सीमाओं के परे जाती है। उनके अनुसार, 'संस्कृति मानव-जाति के अनवरत आत्मसृजन की प्रक्रिया है। अपनी सृजनात्मकता का निरंतर उत्कर्ष ही 'मानवीय आत्मसिद्धि' है और उसके मार्ग में उत्पन्न अनेक 'निवारणीय अवरोधों' को दूर करना वैयक्तिक ही नहीं, संस्थानिक अर्थात् सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक संस्थानों का लक्ष्य और आचरण होना चाहिए। केवल तभी वे अपने आपको वास्तविक अर्थों में नैतिक या अहिंसक कह सकते हैं।' (पृ.12)

लेखक द्वारा 'मानवीय आत्मसिद्धि' को मानवीय संस्कृति से जोड़ कर देखने का प्रयास अहिंसा को किसी धार्मिक दृष्टिकोण अपनाने की बाध्यता से मुक्त कर देता है। यह उद्यम उसे एक सार्वभौम आधार प्रदान करता है, क्योंकि मूल्य-दृष्टि और मूल्यानुभूति होने के कारण संस्कृति सार्वभौम है— भले ही देश-काल के संदर्भ से उसमें भिन्नता दिखाई देती हो। इसलिए संदर्भगत रूप को ही एकमात्र वैध रूप मान लेना संस्कृति की मूल अवधारणा का विरोध करना है। इसी आधार पर लेखक ने राष्ट्रवाद को त्याज्य माना है और मानवेंद्र नाथ राय और रवींद्र नाथ ठाकुर जैसे दिग्गजों को अपने पक्ष में खड़ा किया है। लेकिन जातीय संस्कृतियों में भिन्नता और विरोध से इंकार न करते हुए उन्होंने इस समस्या के निवारण के लिए हजारीप्रसाद द्विवेदी के सूत्र को स्वीकार किया है कि 'सम्पूर्ण सत्य अविरोधी होता है।' इसलिए प्रत्येक प्रयत्न एक-दूसरे का विरोधी नहीं बल्कि पूरक होता है। कारण यह कि प्रत्येक प्रयत्न का प्रयोजन और उसकी सार्थकता इसमें है कि वह मनुष्य के सर्वोत्तम को किस हद तक प्रकाशित कर सकता है। दरअसल, अविरोध की साधना ही संस्कृति की साधना है और 'सर्वभूत के आत्यंतिक हित या कल्याण की वृद्धि है।' यहीं पर नंद किशोर आचार्य यह मूल प्रश्न उठाते हैं कि संस्कृति के सार्वभौम और सनातन रूप की पहचान के लिए भी 'क्या किसी सनातन और सार्वभौम सत्य और उससे प्रसूत मूल्य बोध का अन्वेषण किया जा सकता है? क्या अहिंसा को उसके सूक्ष्म और व्यापक अर्थ में ऐसा मूल्य माना जा सकता है जिसे सभी संस्कृतियों के नीति-दर्शन में स्वीकार किया गया है?' (पृ.15) आगे के अध्यायों में लेखक ने विभिन्न आधारों पर अहिंसा को मानव-अस्तित्व के नियम-धर्म के रूप में प्रस्तावित किया है।

पुस्तक का दूसरा अध्याय अहिंसा की तत्त्वमीमांसा को धर्म-दर्शन में खोजने का प्रयास करता है। उनका निष्कर्ष है कि अपनी तत्त्वमीमांसा— सृष्टि की उत्पत्ति और ईश्वर की अवधारणा— में भिन्नता के बावजूद सभी धर्मों की नैतिकी में विस्मयकारी समानता है। मनुष्य से जिस आचरण की अपेक्षा की जाती है, उसमें कोई आत्यंतिक भेद नहीं है और इस आचरण की कसौटी अहिंसा है, जिसे प्रेम, करुणा, आनृषंस्य, अनुकम्पा, दया, क्षमा आदि विभिन्न नामों से व्यंजित किया गया है। (पृ.20) उल्लेखनीय यह भी है कि कई धर्म-दर्शनों की जन्मभूमि भारत में भी वेदनिष्ठ और अवैदिक दोनों ही प्रकार के धर्म-दर्शनों की नीति-मीमांसा में केंद्रस्थ नैतिक मूल्य अहिंसा या उसका ही कोई पर्याय है। (पृ.21) महाभारत में अहिंसा को कहीं 'परम धर्म' तो कहीं 'सर्व धर्म' कहा गया है। लेकिन जैन धर्म-दर्शन अपनी अहिंसा-निष्ठा के कारण सर्वाधिक उल्लेखनीय है। जैन नीति-मीमांसा में द्रव्य-हिंसा के साथ-साथ भाव-हिंसा का भी उल्लेख है और उसे द्रव्य-हिंसा से अधिक हेय माना गया है

क्योंकि द्रव्य-हिंसा तो अजाने या किसी विवशता का परिणाम हो सकती है किंतु भाव-हिंसा तो स्वैच्छिक है। अहिंसा का जैन तात्त्विक आधार जीवमात्र की समता है। लेखक की स्थापना है कि इसी प्रकार मसीही धर्म-दर्शनों (यहूदी, ईसाई और इस्लाम) की नैतिकी में भी अहिंसा और उसकी समानार्थी अवधारणाओं को केंद्रीय स्थान प्राप्त है। इस्लाम में जिहाद की अवधारणा को लेकर हिंसा-अहिंसा के विवाद से हम सभी (लेखक भी) परिचित हैं, किंतु उसका समाहार उन्होंने जिहाद के दो प्रकार— जिहादे अकबर जो बड़ा जिहाद है, और जिहादे असग़र जो छोटा जिहाद है, के आधार पर करने का प्रयास किया हैं। जिहादे असग़र में अत्याचार के ख़िलाफ़ हिंसा की इजाज़त तभी दी गयी है जब कोई अन्य उपाय न रहे। व्यावहारिक स्तर पर हिंदू, जैन और बौद्ध धर्म को मानने वालों में भी युद्ध और हिंसा के असंख्य उदाहरण हैं, जिसका उल्लेख भी लेखक ने किया है। किंतु लेखक ने धर्म-दर्शनों की व्यक्तिगत स्तर पर सीमित सफलता और सामाजिक-राजनीतिक स्तर पर विफलता के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर यथोचित विचार नहीं किया है। ऐसे में धर्म-दर्शनों के आधार पर अहिंसा को तात्त्विक आधार प्रदान करने की परियोजना पर सवाल उठना स्वाभाविक है। यदि धर्म-दर्शनों की नैतिकी में इतना साम्य है तो फिर विभिन्न धर्मों के अनुयायी आपस में लड़ते क्यों रहते हैं? धार्मिक आतंकवाद आज विश्व की प्रमुख समस्या है। हमें इस मूल प्रश्न से टकराना ही होगा कि क्या धर्म से जुड़ी हिंसा से धर्मों का कुछ भी लेना-देना नहीं है? क्या यह बाहर से लाई जाती है, या हिंसा धर्म की संरचना में ही निहित है?

आज धर्म की अन्य भूमिकाओं की तुलना में अस्मिता-निर्माण में उसकी भूमिका का अध्ययन अधिक प्रासंगिक है। धर्म की संरचना में ऐसे अनेक तत्त्व हैं जो मनो-सामाजिक प्रक्रियाओं द्वारा एक विद्वेषपूर्ण अस्मिता को जन्म देते हैं। यह अस्मिता एक विद्वेषपूर्ण राजनीतिक विचारधारा में विकसित होकर हिंसा का स्थायी कारक बन जाती है। विशेष परिस्थितियों में धर्म हिंसा का जनक, वाहक और वैधता प्रदान करने वाला है। इस सच्चाई को नज़रअंदाज़ करने से धर्म और अहिंसा के संबंधों का विमर्श अधूरा ही रह जाता है और धर्मों के आधार पर अहिंसा को एक सार्वभौम मूल्य की तरह स्थापित करने की लेखक की परियोजना एकांगी प्रतीत होती है।

यहाँ यह बात भी रेखांकित करना ज़रूरी है कि गाँधी की अहिंसा भी परम्परागत धर्मों की अहिंसा से भिन्न है। जहाँ धर्मों का सारा ज़ोर व्यक्ति को स्वयं अहिंसक बनाने पर है, वहीं गाँधी अहिंसक सत्याग्रह द्वारा दूसरे की हिंसा का सामना अहिंसक ढंग से करना सिखाते हैं। इस तरह उन्होंने अहिंसा को व्यक्तिगत जीवन के संकीर्ण दायरे से निकालकर सामाजिक हिंसा से संघर्ष करने में प्रयोग करके न केवल अहिंसा की शक्ति के बारे में पूर्व धारणाओं को चुनौती दी बल्कि अहिंसा के प्रत्यय का सृजनात्मक विस्तार भी किया जो अतुलनीय है। यह एक तरह का 'पैराडाइम शिफ़्ट' है जिसकी ओर लेखक ने कम ध्यान दिया है। यह बात अलग है कि गाँधी की अहिंसा भी हिंदू-मुस्लिम, सवर्ण-दलित वैमनस्य की समस्या सुलझा न सकी और सुधीर चंद्र के शब्दों में वह 'एक असम्भव सम्भावना' बनकर रह गयी।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त कठिनाइयों से लेखक अपरिचित नहीं है। इसी कारण धर्मदर्शन की नैतिकी के मानवीय औचित्य को स्वीकार करने के बावजूद, उसने तीसरे अध्याय में अहिंसक आचरण के लिए वैज्ञानिक आधार खोजने का प्रयास किया है। लेखक की मान्यता है कि 'सभी धर्म- चाहे वे ईश्वर और आत्मा तक को न मानते हों— किसी न किसी अभौतिक सत्ता-प्रक्रिया में विश्वास पर टिके हैं, जिसकी वैज्ञानिक प्रामाणिकता का सत्यापन सम्भव नहीं है।' (पृ.39) यदि कोई व्यक्ति इसलिए अहिंसक है कि राज्य या किसी धर्म द्वारा विवश है तो उसे वास्तविक अर्थ में अहिंसक नहीं माना जा सकता। नैतिक आचरण का आधार मनुष्य की विवेकशीलता में खोजना होगा।

क्या अहिंसा का कोई वैज्ञानिक आधार है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए लेखक ने मार्क्सवाद, विकासवाद, गहन-पारिस्थितिकी जैसे सिद्धांतों के साथ गाँधी, अरविंद, क्रोपोटकिन, बर्गसाँ आदि के

विचारों का गम्भीर अवगाहन किया है। यह उनके व्यापक ज्ञान का परिचायक तो है ही, किंतु इस बात की ओर भी संकेत है कि अहिंसा की तत्त्व मीमांसा का कोई एक सर्वमान्य वैज्ञानिक आधार नहीं है। डार्विन के विकासवाद को अहिंसा का आधार नहीं बनाया जा सकता और अरविंद के विकासवाद को वैज्ञानिक मानने में अनेक बाधाएँ हैं। लेखक द्वारा अरविंद द्वारा निर्धारित विकास के नियम की दो कोटियों— हमारी वास्तविकता का नियम और हमारी सम्भावना का नियम, के आधार पर अहिंसा को सनातन नियम के रूप में स्थापित करने का प्रयास भविष्य के प्रति एक आशावादी सम्भावना तो जगाता है, किंतु उसे वैज्ञानिक रूप से सत्यापित नहीं किया जा सकता। साथ ही यह प्रश्न तो पूछा जाना ही चाहिए कि यदि एकता का सिद्धांत इतना वैज्ञानिक है तो फिर जैव-विकास और मानव-इतिहास में इतनी हिंसा क्यों दिखाई पड़ती है ?

अहिंसा की तत्त्वमीमांसा की खोज का अगला पड़ाव इतिहास है। लेखक ने स्वयं ही यह प्रश्न उठाया है कि क्या अहिंसा इतिहास-सम्मत मूल्य है ? इसका मतलब यह पूछना नहीं है कि क्या इतिहास मात्र अहिंसा का ही इतिहास है। व्यावहारिक विकृति से संस्कृति की आदर्श कल्पना नष्ट नहीं हो जाती। हमें यह भी देखना होगा कि मानवजाति का विकास हिंसा के माध्यम से हुआ है या अहिंसा के माध्यम से और इतिहास का अनुभव हमें क्या सिखाता है— हम कैसा व्यक्ति और समाज चाहते हैं— हिंसक या अहिंसक ? भले ही हम लेखक की इस बात से सहमत न हों कि अहिंसा ही इतिहास का नियम है और हिंसा उसका उल्लंघन, उनकी इस बात में पर्याप्त बल है कि 'शनैः-शनैः इतिहास की धारा हिंसक भटकावों के बावजूद अहिंसा की ओर उन्मुख है'। (पृ. 55) स्टीवेन पिंकर के हाल ही में प्रकाशित अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है कि विश्व में छोटे और बड़े, दोनों स्तरों पर हिंसा में कमी आयी है।[1] लेकिन इसके पीछे कोई वैज्ञानिक/ऐतिहासिक नियम नहीं बल्कि मनुष्य के सामूहिक प्रयास से बदली परिस्थितियाँ हैं। लेखक की इस बात में भी काफ़ी दम है कि 'अब कोई राष्ट्र युद्ध का दायित्व अपने पर नहीं लेना चाहता है। वह चाहे युद्ध का इच्छुक हो तो भी उसका तर्क यही होता है कि युद्ध उस पर थोप दिया गया है और वह आत्मरक्षा के लिए ऐसा करने को बाध्य है।' (पृ. 58) लेखक की इस बात से भी दूर तक सहमत हुआ जा सकता है कि 'मानवता को विभिन्न समुदायों के पारस्परिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक बौद्धिक सम्पर्क से जो लाभ हुआ है, वह युद्धों से नहीं'। (पृ. 58) लेखक ने इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की ओर भी ध्यान दिलाया है— 'केवल युद्ध या स्थूल हिंसा ही नहीं, हिंसा के सूक्ष्म और सांस्थानिक रूपों की पहचान और उनकी अस्वीकृति'। (पृ. 60) इन्हीं कारणों से आज विश्व जनमत में सभी तरह की हिंसा का उन्मूलन और अहिंसा की वांछनीयता बढ़ी है। दरअसल स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का स्वप्न एक अहिंसक समाज का स्वप्न है। लेकिन विश्व के विभिन्न भागों में होती हिंसा की वारदातों के सम्मुख अभी यह स्वप्न ही लगता है। फिर भी इसके आधार पर मनुष्य अपने इतिहास के भावी विकास की दिशा को निर्धारित करने का प्रयत्न तो कर ही सकता है। चेतना सम्पन्न होते जाने के कारण अब यह ज़िम्मेदारी स्वयं मनुष्य की है।

पाँचवें अध्याय में लेखक ने अहिंसा की तत्त्वमीमांसा के मनोवैज्ञानिक आयाम का विधिवत् परीक्षण किया है। वे इस बात से अवगत हैं कि मनोवैज्ञानिकों और तंत्रिका-विज्ञानियों में इस बात को लेकर मतभेद है कि हिंसा या आक्रामकता मनुष्य में अंतर्जात है अथवा अर्जित या परिस्थितिगत। अपने विश्लेषण से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'हिंसा यदि अंतर्जात है तो भी उसकी अभिव्यक्ति बाह्य उत्तेजना या परिस्थितिजन्य दबाव की प्रतिक्रिया में होती है'। (पृ.64) अपने समर्थन में वे अनेक नामी शोधार्थियों के साथ अमेरिका में ऑटो क्लाइनबर्ग द्वारा किये गये अध्ययन को उद्धृत करते हैं जिनका

[1] स्टीवन पिंकर (2011), *दि बैटर एंजेल्स ऑफ़ अवर नेचर : वाइ वॉयलेंस हैज़ डिक्लाइंड*, पेंगुइन बुक्स, लंदन.

निष्कर्ष है कि 'प्रकृति हमें केवल हिंसा के लिए समर्थ बनाती है, हम उस सामर्थ्य का इस्तेमाल करें या नहीं, अथवा किस रूप में करें, यह हमारी सामाजिक स्थिति द्वारा निर्धारित होता है'। (पृ. 68-69) अत: हिंसा न तो सार्वभौम है, न अनिवार्य और न प्रवृत्तिगत। कुछ व्यक्तियों या व्यक्ति समूहों में यह अधिक परिलक्षित होती है और कुछ में अत्यंत कम। इसका क्या कारण है कि एक-सी परिस्थिति में एक व्यक्ति या समूह हिंसक हो उठता है और दूसरा नहीं होता? (पृ. 69)

आक्रामकता और हिंसा के संदर्भ में लेखक ने एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह उठाया है कि क्या आक्रामकता अनिवार्यत: हिंसक ही होती है? क्या आक्रामकता सृजनात्मक या अहिंसक भी हो सकती है? अल्फ्रेड एडलर जैसे मनोविज्ञानियों से समर्थन जुटाते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'किसी भी तरह की सृजनात्मक पहल या अहिंसात्मक विद्रोह भी मूलत: आक्रामकता के बिना सम्भव नहीं होते। सभी सुधारात्मक और समाज-सेवा के कार्य भी इसी के उदाहरण हैं।' (पृ. 71)। यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कई निरपेक्ष अहिंसावादियों की दृष्टि में गाँधी की अहिंसा भी हिंसा का ही एक रूप थी। इसी संदर्भ में प्रख्यात मनोविश्लेषक एरिक फ्रॉम का निष्कर्ष अहिंसा को एक जैविक-सांस्कृतिक आधार प्रदान करता है। उनके अनुसार मनुष्य केवल जैविक आवेगों द्वारा निर्मित नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में जिन मानवीय प्रवृत्तियों जैसे स्वतंत्रता, प्रेम, सामाजिकता आदि का उसमें विकास हुआ है, वे उसकी जीवन-शैली और आचरण को प्रभावित करने वाली प्रेरक शक्तियाँ हैं— उन्हें किसी तरह जैविक आवेगों में दूसरे दर्जे की प्रवृत्तियाँ नहीं माना जा सकता। अत: लेखक का निष्कर्ष है कि 'हिंसा का सवाल जीव-वैज्ञानिक नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक सवाल है। हमारी समाजीकरण की प्रक्रिया अभी तक हिंसा के औचित्य या उसके द्वारा प्रदत्त बल का सम्मान करती है अर्थात् उसे वांछनीय मान लेती है।' (पृ. 74) इसीलिए वे विश्व के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों की उस सम्मिलित उद्घोषणा के पक्ष में खड़े होते हैं जिसमें कहा गया है कि मनुष्यता युद्ध के लिए जीव-विज्ञान द्वारा अभिशप्त नहीं है। मानवजाति ने यदि युद्ध का आविष्कार किया तो वह शांति का आविष्कार करने में भी समर्थ है।

> गाँधी की अहिंसा भी परम्परागत धर्मों की अहिंसा से भिन्न है। जहाँ धर्मों का सारा ज़ोर व्यक्ति को स्वयं अहिंसक बनाने पर है, वहीं गाँधी अहिंसक सत्याग्रह द्वारा दूसरे की हिंसा का सामना अहिंसक ढंग से करना सिखाते हैं। इस तरह उन्होंने अहिंसा को व्यक्तिगत जीवन के संकीर्ण दायरे से निकालकर सामाजिक हिंसा से संघर्ष करने में प्रयोग करके न केवल अहिंसा की शक्ति के बारे में पूर्व धारणाओं को चुनौती दी बल्कि अहिंसा के प्रत्यय का सृजनात्मक विस्तार भी किया जो अतुलनीय है। यह एक तरह का 'पैराडाइम शिफ़्ट' है जिसकी ओर लेखक ने कम ध्यान दिया है।

अहिंसा को जीवन के केंद्रीय मूल्य के रूप में स्थापित करने के पश्चात् लेखक ने जीवन के सभी रूपों— वैयक्तिक और सामूहिक जीवन की व्यवस्थाओं को अहिंसा बोध से निर्धारित करने की चुनौती को पुस्तक के छठे अध्याय में उठाया है। निश्चय ही यह उनके द्वारा प्रारम्भ में दी गयी अहिंसक व्यवहार की परिभाषा के अनुरूप ही है। आज हम मानते हैं कि हिंसा-अहिंसा का सवाल मात्र वैयक्तिक आचरण का सवाल नहीं है। हम जिसे संरचनात्मक हिंसा कहते हैं उसमें आर्थिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक हिंसा के साथ बौद्धिक-सांस्कृतिक और विचारात्मक हिंसा भी शामिल है। सामान्यत: जैसा कि योहान गाल्टुंग ने कहा है, हिंसा की कारण-शृंखला सांस्कृतिक से प्रभावित होकर संरचनात्मक प्रक्रियाओं में गुज़रती हुई प्रत्यक्ष हिंसा में परिणत होती है। सांस्कृतिक

विश्वास हिंसा को औचित्य प्रदान करते हैं। अत: अहिंसा की सिद्धि प्रक्रियागत ही हो सकती है। इसी को महात्मा गाँधी साध्य-साधन की एकता और डॉ. देवराज साधनात्मक मूल्यों से साध्य मूल्यों की सिद्धि सम्भव मानते हैं। वह कौन-सी आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रणाली होगी जो अहिंसा के लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव बनाएगी— आगे के अध्यायों में लेखक ने ऐसे प्रश्नों पर समुचित विचार किया है। इसे अहिंसा विमर्श के आधुनिक आयाम की संज्ञा दी जा सकती है।

लेखक का स्पष्ट मत है कि आर्थिक विकास और उसकी प्रक्रियाओं को भी अहिंसा की कसौटी पर कसा जाना चाहिए। यह देखना ज़रूरी है कि उत्पादन की प्रक्रिया, उसका प्रयोजन और उसमें होने वाले लाभ के वितरण की व्यवस्था कितनी हिंसक या अहिंसक है और यदि वह हिंसा की ओर अधिक उन्मुख है तो उसे कैसे अहिंसक बनाया जा सकता है। वर्तमान आर्थिक विकास कई मायने में हिंसक है— उसका लाभ जनसंख्या के एक छोटे हिस्से तक ही सीमित है, आम आदमी तक नहीं पहुँच सका है, प्राकृतिक साधनों के अपूरणीय दोहन के साथ-साथ मानव जीवन के सत्व का भी क्षरण हुआ है। आधुनिक तकनीकी पर आधारित उत्पादन व्यवस्था में मनुष्य स्वयं एक वस्तु में रूपांतरित हो जाता है और मानवीय संबंध भी वस्तुओं के बीच संबंध में बदल जाते हैं जिसकी ओर मार्क्स ने इशारा किया है। यह तकनीकी ग़रीब और अविकसित देशों पर बड़े विकसित देशों का आर्थिक ही नहीं राजनीतिक नियंत्रण बढ़ाने में भी सहयोग करती हैं। तकनीकी के विकास के साथ श्रम की भूमिका भी कमज़ोर होती चली गयी है और हम रोज़गार हीन विकास की स्थिति में आने को अभिशप्त हैं। वर्तमान उत्पादन प्रक्रिया का एक और हिंसक आयाम विस्थापन भी है जो मनुष्य को अपने सांस्कृतिक परिवेश से काटकर अस्मिता के संकट को बढ़ावा देता है। बड़े पैमाने पर किया जाने वाला उत्पादन केंद्रीकृत स्वामित्व को स्थापित करता है जो चाहे पूँजीवादी हो या समाजवादी उसमें पूँजी और श्रम के संबंध संघर्षपूर्ण ही बने रहते हैं। शोषण भी हिंसा का ही एक स्वरूप है।

क्या हिंसा के उपरोक्त रूपों का कोई समाधान सम्भव है? लेखक ने स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया है। उनका स्पष्ट मत है कि 'मनुष्य मूलत: उपभोक्ता नहीं एक विकसनशील नैतिक अस्तित्व है। जीवन की आवश्यकता के लिए जितना उपभोग आवश्यक है, उसकी पूर्ति के लिए उत्पादन आर्थिकी का प्रयोजन होना चाहिए।' (पृ. 97) लेकिन एक अहिंसक अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए वे व्यक्तिगत अपरिग्रह को नाकाफ़ी मानते हैं। उनका मानना है कि 'जब तक आर्थिक प्रक्रिया में संरचनात्मक परिवर्तन नहीं होता है जिससे परिग्रह या सम्पत्ति के केंद्रीकरण की सम्भावना ही न रहे, तब तक व्यक्तिगत आचरण के लिए भी अनुकूल वातावरण नहीं बन सकता। अर्थव्यवस्था एक सांस्थानिक-सांगठनिक प्रक्रिया है केवल व्यक्तिगत आचरण नहीं'। (पृ. 98-99) अहिंसक आर्थिकी के निर्माण के लिए वे शूमाकर, डिक्सन, मिलर, नोर्डलुण्ड, कुमारप्पा के विचारों की चर्चा करते हैं और गाँधी द्वारा प्रस्तावित अहिंसक प्रौद्योगिकी के विचार को सर्वाधिक उपयोगी मानते हैं। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व और उत्पादन से होने वाले लाभ के वितरण के लिए वे गाँधी द्वारा सुझाए गये 'न्यासिता' के समाधान को अपनाने की वकालत करते हैं। लेकिन गाँधीवादी आर्थिक प्रयोग को राज्य द्वारा अपनाए न जाने की विवशता और राज्य से बाहर सीमित सफलता से वे दो-चार नहीं होते। पूँजीपति के हृदय परिवर्तन पर आधारित 'न्यासिता' के सिद्धांत की विफलता उन्हें क्यों दिखाई नहीं देती? यह भी सवाल तो उठता ही है कि क्या उपभोक्तावाद के मकड़जाल में फँसी जनता को इस ओर मोड़ा जा सकता है?

अगले अध्याय के प्रारम्भ में लेखक ने प्रश्न उठाया है कि क्या राज्य व्यवस्था भी अहिंसक हो सकती है और फिर महात्मा गाँधी, मार्क्सवादी और आदर्शवादी विचारकों को उद्धृत करके यह स्वीकारा है कि राज्य एक हिंसक संगठन है। तो क्या एक अहिंसक समाज की स्थापना के लिए क्रांतिकारी हिंसा का औचित्य है? तिलक जैसे विचारक 'लोक संग्रह' के लिए एक प्रकार की 'निष्काम हिंसा' का समर्थन करते हैं। फ्रेंज फ़ानो जैसे विचारक तो हिंसा का समर्थन इस कारण भी करते हैं कि

हिंसा दबे हुए लोगों को उनकी हीनभावना, निराशा, निष्क्रियता से मुक्ति दिलाकर उनका आत्मसम्मान वापस लौटाती है। किंतु लेखक का स्पष्ट मत है कि 'हिंसा और हिंसा के द्वंद्व में उद्देश्य का औचित्य नहीं, हिंसा ही सफल होती है क्योंकि इस संघर्ष में वही विजय पाता है, जो अधिक हिंसक हो सके। यह प्रकारांतर में हिंसा को एक सामाजिक मूल्य की हैसियत से प्रतिष्ठित करना है— सफलता असफलता का सवाल तो बाद में उठता है।' (पृ. 107) अपने पक्ष में गाँधी, आम्बेडकर और जयप्रकाश नारायण को खड़ा करते हुए वे अहिंसक राज्य व्यवस्था के लिए अहिंसक उपाय ही अपनाने के पक्षधर हैं। अहिंसक प्रतिरोध की अवधारणा के विकास में थोरो, टॉलस्टाय और महात्मा गाँधी के योगदान की चर्चा करते हुए लेखक ने विनोबा द्वारा 'सौम्य सत्याग्रह'— विरोधी को सही चिंतन के लिए मदद करना, सत्याग्रह की अवधारणा में नया आयाम जोड़ने के उल्लेखनीय अवदान को भी सराहा है। आज के समय में जब लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ भी लोकतंत्र के मानदण्ड अपनाकर (मतों की गिनती) अधिनायकत्व अर्जित कर रही हैं, अहिंसक प्रतिरोध की प्रासंगिकता से कौन इंकार कर सकता है। हमें नहीं भूलना चाहिए कि हिटलर ने भी जनता में सामूहिक उन्माद जगा कर लोकतांत्रिक ढंग से अधिनायकत्व हासिल किया था। इसलिए लेखक के इस निष्कर्ष से सहमत हुआ जा सकता है कि 'लोकतांत्रिक कहे जाने वाले राज्य भी, अंततः बहुमत के आधार पर अल्पमत के साथ हिंसा करने की सामर्थ्य तो रखते ही हैं।' (पृ.115)

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर लेखक, ख़ुद को अराजकतावादियों की परम्परा में रखते हुए, गाँधी के समाज, सम्प्रभुता के विकेंद्रीकरण अर्थात् 'ग्राम स्वराज' की अवधारणा पर ज़ोर देते हैं। इसका मतलब है क्रियाशीलता के हर स्तर पर स्वायत्त और स्वनियंत्रित होना। ऐसे में राज्य जैसी संस्था की भूमिका केवल एक संयोजक की ही हो सकती है जिस संरचना को महात्मा गाँधी 'महासागरीय वलय' की संज्ञा देते हैं। गाँधी की 'लोकतंत्र' और 'स्वराज' दोनों परिभाषाओं के सम्मिलन से एक नये राजनीतिक दर्शन के सृजन की प्रेरणा लेखक जगाते तो हैं किंतु वर्तमान समय में उसकी व्यावहारिकता के प्रश्न पर विचार नहीं करते, जो उनके विश्लेषण को अधूरा बना देता है। आज जब तकनीकी से प्राप्त ताक़त से राजनीतिक सत्ता निरंतर शक्तिशाली और निरंकुश होती जा रही है, उसके विकल्प के रूप में एक अहिंसक राज्य व्यवस्था का निर्माण एक भोला-भाला सपना-सा ही लगता है। अभी तो लोकतंत्र के मूल-प्रतिरोध की स्वतंत्रता को बचा पाना ही मुश्किल हो रहा है।

भाषा, लिंग और यहाँ तक कि प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के आधार पर पूर्वग्रह व्यक्ति/समूह की मानसिकता में जड़ जमाए बैठे रहते हैं और संरचनात्मक हिंसा को वैधता प्रदान करते हैं और साथ ही हमारे नैतिक आत्म में किसी अपराध बोध का कारण भी नहीं बनते। इतने सटीक विश्लेषण के बाद यह बात खटकती है कि पता नहीं क्यों लेखक भारत में जाति व्यवस्था को औचित्य प्रदान करने वाली वर्ण व्यवस्था में सांस्कृतिक विश्वास की चर्चा तक नहीं करते। यही बात कर्म-सिद्धांत के बारे में भी कही जा सकती है जो सामाजिक अन्याय को औचित्य प्रदान करने वाला सांस्कृतिक विश्वास ही है। वह न तो अन्यायी के भीतर अपराध बोध को जगने देता है और न शोषित के मन में विद्रोह भावना।

आज के संदर्भ में, पुस्तक का अंतिम अध्याय 'अहिंसा का सांस्कृतिक आयाम' मेरी दृष्टि में अत्यधिक प्रासंगिक है। योहान गाल्टुंग जिसे 'सांस्कृतिक हिंसा' कहते हैं, वह एक आस्था-प्रणाली के आधार पर होती है— जब वह अपने से बाहर के जीवन को 'अन्य' या 'पर' मान कर तिरस्कृत करती है। इसी में सांस्कृतिक हिंसा का बीज होता है। जब हम विश्वास करते हैं कि श्रेष्ठता के पास हीनतर 'अन्य' को अपनी इच्छानुसार नियंत्रित करने का अधिकार है तो हम अपने हिंसात्मक आचरण को ही वैधता प्रदान कर रहे होते हैं। इसलिए गाल्टुंग का यह निष्कर्ष, लेखक की दृष्टि में समीचीन है कि 'हमारे विश्वास समाज में संरचनात्मक और प्रत्यक्ष हिंसा को औचित्य या वैधता— लेजिटिमेसी दे देते हैं।' (पृ. 122) योहान गाल्टुंग ने धार्मिक सम्प्रदायवाद, राष्ट्रवाद, विचारधारा, भाषा, कला तथा विज्ञानों को सांस्कृतिक हिंसा के स्थिर तत्त्वों के रूप में परिभाषित किया है जो संरचनात्मक हिंसा को औचित्य प्रदान करते हैं। वर्तमान में प्रत्येक धार्मिक समूह अपने विश्वासों को श्रेष्ठ और ईश्वर प्रदत्त और दूसरे धार्मिक समूहों के विश्वासों को हीन 'अन्य' की तरह देखता है और उसे शत्रु मानकर मिटाना अपना धार्मिक कर्तव्य समझता है। अधिकांश साम्प्रदायिक दंगों के पीछे यही कारण है। ईश्वर द्वारा 'चयनितसमूह' की इस धारणा का जब राष्ट्र-राज्य की विचारधारा के साथ अंतर्ग्रंथन हो जाता है तो उसके परिणाम कितने भयावह होते हैं, इसे भारत सहित अनेक देशों के उदाहरण से समझा जा सकता है।

इसी तरह भाषा, लिंग और यहाँ तक कि प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के आधार पर पूर्वाग्रह व्यक्ति/समूह की मानसिकता में जड़ जमाए बैठे रहते हैं और संरचनात्मक हिंसा को वैधता प्रदान करते हैं और साथ ही हमारे नैतिक आत्म में किसी अपराध बोध का कारण भी नहीं बनते। इतने सटीक विश्लेषण के बाद यह बात खटकती है कि पता नहीं क्यों लेखक भारत में जाति व्यवस्था को औचित्य प्रदान करने वाली वर्ण व्यवस्था में सांस्कृतिक विश्वास की चर्चा तक नहीं करते। यही बात कर्म-सिद्धांत के बारे में भी कही जा सकती है जो सामाजिक अन्याय को औचित्य प्रदान करने वाला सांस्कृतिक विश्वास ही है। वह न तो अन्यायी के भीतर अपराध बोध को जगने देता है और न शोषित के मन में विद्रोह भावना। यहाँ पुस्तक की सीमाएँ स्पष्ट हैं।

सांस्कृतिक हिंसा के निराकरण के लिए लेखक गाँधी के दो सूत्रों— 1. जीवन का एकत्व, और 2. साध्य-साधन एकत्व तथा विनोबा की पाँच आध्यात्मिक निष्ठाओं को हल के रूप में देखते हैं। यहाँ विनोबा की कर्म सिद्धांत की मौलिक व्याख्या उल्लेखनीय है जिसमें वे मानते हैं कि किसी एक व्यक्ति के कर्म का फल पूरे समाज को भोगना पड़ सकता है। उसी तरह समाज के कर्म का प्रभाव भी व्यक्ति पर पड़ता है। भले ही विनोबा के लिए ये मूल्य विश्व के विकास प्रक्रिया के विज्ञान-सम्मत मूल्य हों, सामान्य व्यक्ति के लिए उनकी उपादेयता भावात्मक नैतिक उपदेशों से ज़्यादा नहीं हैं। ऐसे में यह एक यूटोपिया से ज़्यादा महत्त्व नहीं रखता। लेकिन लेखक का यह निष्कर्ष आशा तो जगाता ही है कि 'मानव जाति ने अहिंसा को एक सांस्कृतिक विश्वास की तरह स्वीकार कर लिया है, जिसके आधार पर वह अपने भविष्य का निर्माण करना चाहता है।' (पृ. 128)। यह राह कितनी लम्बी होगी, यह तो भविष्य ही बताएगा। अभी तो इस साहसपूर्ण उद्घोषणा और उस राह में क़दम बढ़ाने के लिए एक 'वैचारिक रोडमैप', समीक्ष्य पुस्तक के रूप में प्रदान करने के लिए लेखक साधुवाद के पात्र हैं। *अहिंसा की संस्कृति* के निर्माण में यह एक मज़बूत और प्रभावी क़दम है और हमारी प्रशंसा का हक़दार भी।